आज का सत्सङ्ग

2018

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलन
आनन्द प्रस्तुति ऑडियो विजुअल सेंटर
वृन्दावन

31वें आराधन महोत्सव के पावन पर्व पर

त्वदीय वस्तु गोविन्द !
तुभ्यमेव समर्पयेत् ।

श्रीअशोक मोदी, दिल्ली के
सौजन्य से

आनन्द प्रस्तुति ऑडियो विजुअल सेंटर
आनन्द वृन्दावन, वृन्दावन
द्वारा
वितरणार्थ प्रकाशित

मुद्रण–संयोजन
श्रीहरिनाम प्रेस, लोई बाजार, वृन्दावन–281121
दूरध्वनि : 7500987654

शुभाशंसा

पिछले 3 वर्षों की भाँति इस वर्ष भी परमपूज्य महाराजश्री के '**आराधन-महोत्सव**' पर उनकी अमृतमयी वाणी-सदुपदेशों का यह अद्‌भुत संकलन "**आज का सत्सङ्ग-2018**" आनन्द प्रस्तुति ऑडियो विजुअल सेंटर द्वारा प्रसादी पुस्तिका के रूप में प्रकाशित एवं वितरित किया जा रहा है।

इस प्रसादी पुस्तिका में ग्रथित नानाविध धर्म, व्यवहार, भक्ति एवं वेदान्त के अद्‌भुत रत्नों के संकलन का श्रेय सुश्री साध्वी कंचन को है एतदर्थ उनको साधुवाद है!

मैं आशा करता हूँ कि सुधी पाठक संकलित प्रसंगों का पठन-मनन कर अपने में धन्यता का अनुभव करेंगे।

विनयावनत

सच्चिदानन्द

विषय सूची

●●●

मङ्गलाचरण

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः।।

'हम प्रातःकाल श्रद्धा का आवाहन करते हैं। हम मध्य दिन में श्रद्धा का आवाहन करते हैं। हम प्रेरणादायी आदित्य के अस्त-मनकाल में भी श्रद्धा का आवाहन करते हैं। हे श्रद्धे! हम लोगों को अपने इष्ट की प्राप्ति के साधन में श्रद्धावान् बनाओ।'

नाश्रद्दधानाय हविर्जुषन्ति देवाः। श्रद्धारहित पुरुष का हविष्य देवतालोग स्वीकार नहीं करते। श्रद्धाहीन की इन्द्रियाँ भी भूखी-प्यासी ही रहती हैं। ईश्वर की प्रसन्नता पर श्रद्धा न हो तो वह भी रुष्ट मालूम पड़ता है। श्रद्धाहीन का वेदान्त-श्रवण भी व्यर्थ है।

[श्रद्धा-सूक्त ऋग्वेद मं० 10, अ० 11]

●●●

:: 1 ::

चिन्तन की महिमा

भगवान् के स्मरण-चिन्तन की ऐसी महिमा है कि एक दिन एक गोपी यमुना जल भरने के लिये गयी। जब घड़ा डुबाया उसने पानी में तो ऐसा लगा कि श्रीकृष्ण आ गये हैं और आकर हमारा घड़ा पकड़कर खींचा-खींची कर रहे हैं, पानी भरने नहीं दे रहे। वह बेचारी घड़ा छोड़कर आ गयी किनारे। उसने आकर लगाया पद्मासन, पीठ की रीढ़ सीधी की, आँख अधखुली की, सिर सीधा किया, वह बैठकर ध्यान करने लगी।

इतने में देवर्षि नारद वीणा बजाते, हरिगुण गाते वहाँ आ गये। उनको देखकर गोपी उठकर खड़ी हो गयी। नारद बाबा ने पूछा कि क्यों री ग्वालन, तू श्रीकृष्ण का ध्यान कर रही है? गोपी बोली कि नहीं बाबा उसका नाम मत लो। नारदजी ने कहा कि अरे बाबा, तुम्हें श्रीकृष्ण के नाम से इतनी चिढ़ क्यों हो गयी? बोली कि क्या करें? सबेरे उठकर घर लीपने लगती हूँ तो ऐसा मालूम पड़ता है कि श्रीकृष्ण आकर हमारे लीपे हुये-को आपने पाँव से रौंद-रौंदकर बिगाड़ते जा रहे हैं, इसलिये घर लीपा ही नहीं गया, बीच में ही रह गया। उसके बाद गाय दुहने गयी तो मालूम पड़ा कि आकर सामने बैठ गये हैं मेरे मुँह में दूध दे दो। अब मैं तो मटके की जगह उनके मुँह में दूध दुहने लगी और देखा तो दूध सब बिखर गया है, वहाँ तो श्रीकृष्ण थे ही नहीं। फिर धान कूटने गयी तो मालूम पड़ा कि श्रीकृष्ण ने आकर मूसल ही पकड़ लिया है और मुझसे धान कूटा ही नहीं गया। इस तरह उनके कारण घर का कोई काम सबेरे से लेकर अब तक नहीं हुआ। जहाँ देखो वहाँ श्रीकृष्ण! पर इसमें श्रीकृष्ण का तो कोई दोष नहीं है बाबा, यह तो मेरे मनका ही दोष है। हमारा मन ही बार-बार श्रीकृष्ण की याद करता रहता है और मान बैठता है कि यहाँ श्रीकृष्ण हैं। इसलिये मैं ध्यान श्रीकृष्ण का नहीं कर रही हूँ, मैं तो योगाभ्यास कर रही हूँ अपने मनको वश

में करने के लिये यह श्रीकृष्ण को किसी तरह हमारे मन से बाहर निकाल दे। मेरे मनमें श्रीकृष्ण आने ही न पावें। श्रीरूपगोस्वामी जी ने यह कथा लिखी है। वे कहते हैं कि-

प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन्मनो धित्सते।
बालेयं विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहरन्ति मनः।
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेयं किल पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति।।

(विदग्धमाधव 2/29)

बड़े-बड़े योगी-यति-संन्यासी चाहते हैं कि एक क्षण के लिये हमारे हृदय में श्रीकृष्ण का पीताम्बर फहरा जाये, उनके दशों नख चमक जायें, उनकी आँख की रोशनी फैल जाये और उससे हमारे हृदय का अन्धकार दूर हो जाये। लेकिन उन्हीं श्रीकृष्ण को अपने हृदय से निकालने के लिये गोपी योगाभ्यास कर रही है।

इसलिये जहाँ विश्वास होता है, वहाँ प्रेम होता है; जहाँ प्रेम होता है, वहाँ सेवा होती है और जहाँ सेवा होती है, वहाँ स्मृति होती है। एक-दूसरे से मिली-जुली रहती है।

●●●

:: 2 ::

प्रेमी आराधक के गुण

आनन्दमुकुन्द के प्रेमी आराधक के जीवन में यह बातें सर्वदा रहती हैं–

१. सम्मान– अपने इष्टदेव प्रियतम के प्रति सर्वदा सम्मान का भाव। अर्जुन किसी भी अवस्था में हों, कृष्ण को देखते ही खड़े हो जाया करते थे।

२. बहुमान– अपने प्राणाराम को स्मरण कराने वाली वस्तुओं को देखते ही तन्मयता। नृसिंह पुराण में कथा है कि राजा इक्ष्वाकु कृष्णसार मृग को देखते ही 'कृष्णसार–कृष्ण कृष्ण', कमल सामने आते ही 'कमलनयन' और श्याम मेघ देखकर 'मेघश्याम श्यामसुन्दर' पुकारते हुए तन्मय हो जाते थे।

३. प्रीति– अपने हृदय में आनन्दात्मक राग का उल्लास फुदकना। अक्रूर के घर पर कृष्ण के आने पर उनका हृदय बल्लियों उछलने लगा था।

४. विरह– एक गोपी कहती है–'अपने बड़ों के सामने कैसे बोलूँ? हृदय फट रहा है।'

दूसरी कहती है–'जब हम विरह की आग में जल ही मरेंगी, तब यह निगोड़ी लाज किस काम आयेगी।

५. इतर विचिकित्सा–'दूसरे पर दृष्टि न डालना। भक्त उपमन्यु पर शिवजी प्रसन्न हुए। ऐरावत पर चढ़कर वज्रधारी इन्द्र के वेश में आये वरदान देने। उसने मुँह फेर लिया, बोला–'शंकर जी कीड़ा बना दें, नरक में डाल दें, स्वीकार है। आप त्रिलोकी का राज्य भी दें तो नहीं चाहिए।

६. **महिमख्याति**– जहाँ–तहाँ, मौके–बेमौके अपने स्वामी की महिमा प्रकट करना। यमराज ने नरक में पड़े जीवों से कहा–'तुमने पहले कृष्ण भक्ति क्यों नहीं की?' दूतों से बोले–'भगवद्भक्तों के पास कभी न जाना।' उपदेश के अच्छे पात्र मिले; परन्तु मन की बात जो ठहरी।

७. **तदर्थ प्राणधारण**– केवल उसी के लिए जीना। खाये–पिये, सोये, पहने बिना शरीर ठीक नहीं रहेगा, तो उसे कैसे सुखी करेंगे। मुझे दु:खी देख कर वह भी दु:खी हो जायेगा। जीते हैं तो उसी के लिए, मरेंगे तो उसी के लिए।

८. **तदीयता**– अपनी सब वस्तुओं को उसी का समझना।

९. **सर्वत्र तद्भाव**– सबमें उसी का दर्शन।

१०. **अप्रतिकूल्य**– कभी प्रतिकूल भाव न आना।

: : 3 : :

जिज्ञासा और समाधान–1

प्रश्न– भगवान् किसे मिलते हैं?

उत्तर– अपने में कशिश हो भगवान् से मिलने की और प्रयत्न हो। वे खींचे और हम उन्हें मदद दें खींचने में, जैसे कुएँ में गिरा हुआ व्यक्ति खींचने वाले को, ऊपर लाने-वाले को रस्सी आदि में बँधकर और शान्त बैठकर ऊपर आने में सहायता दे।

प्रश्न– गुरु और शिष्य का सम्बन्ध कैसा हो?

उत्तर– पारमार्थिक सत्ता में गुरु और शिष्य की आत्मा का और व्यावहारिक सत्ता में गुरु और शिष्य के मन का एकीकरण।

प्रश्न– भाग्यवान् कौन?

उत्तर– संसार की समृद्धि से सम्पन्न।

प्रश्न– महाभाग्यवान् कौन?

उत्तर– संसार के स्वामी प्रभु से सम्पन्न।

प्रश्न– भगवान् प्रसन्न हैं, यह कैसे जानें?

उत्तर– जब वह अपने और जीव के बीच में पड़े हुए अविद्या और माया के आवरण को हटा ले। इतनी निकटता में भी दर्शन का न होना अप्रसन्नता का सूचक है।

प्रश्न– महात्मन्! क्या कभी आप मेरा भी स्मरण करते हैं?

उत्तर– हाँ, सेठ! तभी जब ईश्वर को भूल जाता हूँ।

●●●

: : 4 : :

जिज्ञासा और समाधान-2

अब यह जो आपका प्रश्न है कि क्या भक्ति प्रयत्न से मिल सकती है तो इस प्रश्न के सन्दर्भ में मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या आपके हृदय में भक्ति नहीं है? पिता के प्रति भक्ति नहीं है? आचार्य के प्रति भक्ति नहीं है? नेता के प्रति भक्ति नहीं है? अरे बाबा, क्या अपने शरीर के प्रति भी भक्ति नहीं है? हाँ, कहीं-न-कहीं भक्ति है। सबके अन्त:करण में जो अपना आनन्द-स्वरूप है, उसका प्रतिबिम्बन होता है, उसकी छाया पड़ती है और उस छाया के कारण अपना अन्त:करण रसीला हो जाता है। आप उस रस को कहाँ से लेना चाहते हैं या कहाँ देना चाहते हैं? यदि संसार में देना या लेना चाहते हैं तो उसे जरूर आपको कभी-न-कभी छोड़ना पड़ेगा, चाहे वह छूटे अथवा चाहे आप उसे छोड़ें। ऐसी स्थिति में यदि इस रसानुभूतिका आधार आपके हृदय में ही हो, आपके हृदय में रहने वाला आत्मदेव ही हो अन्तर्यामी परमेश्वर ही हो। आपके द्वारा ध्यान में आया हुआ भगवान् का नाम-रूप-लीला-धाम ही हो तो आप सर्वथा निर्भय होकर उसका आश्रय पकड़ लीजिये। तब आप अपनी प्रीति को कहीं अन्य ओर जाने से, कहीं आसक्ति होने से, कहीं ठगे जाने से, कहीं फँसने से बच सकते हैं। यदि आप अपने हृदयस्थ परमेश्वर के ही स्वरूप, स्वभाव, प्रभाव, अनुभाव, उनके गुण, उनकी रूप लीला, उनकी सेवा और उनके नाम-जप आदि के द्वारा अपने हृदय में भगवान् की भक्ति बढ़ाना चाहें तो भक्ति को पूर्ण कर सकते हैं, जो कि आपके हृदय में पहले से ही है। भक्ति बाहर से आती नहीं है। भक्ति तो है, परन्तु जैसी भक्ति गोस्वामीजी चाहते हैं वैसी वह नहीं है। वे कहते है :-

कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम।।

जैसे कामीकी प्रीति नारी के साथ जुड़ गयी, लोभी की प्रीति धन के साथ जुड़ गयी; वैसे ही हमारी प्रीति भगवान् के साथ जुड़ जाये। विष्णुपुराण में आया है।

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी

(1.20.19)

इसका मतलब यही है कि संसारी लोगों की नश्वर वस्तुओं में छूटने वाली, मिटने वाली, टूटने वाली वस्तुओं में–जितनी प्रीति होती है, उतनी प्रीति यदि हृदय में भगवान् के साथ हो जाये तो मंगल हो जाये। अरे तुम तो भगवान् को जब चाहो तब देख लो। वे तुम्हारे हृदय में ही तो हैं। जो आँख सपना देख लेती है, जो कान सपने की आवाज सुन लेते हैं, जो जीभ रसीला पदार्थ सपने में खा लेती है, जो नाक सूँघ लेती है, जो त्वचा यहाँ के सुकुमार स्पर्श का अनुभव कर लेती है, जो मन यहाँ प्रिय-अप्रिय का चिन्तन कर लेता है, वही आपका मन, वही आपका अन्त:करण यदि जागते हुए भगवान् का सपना देखने लगे तो आपके हृदय में जरूर-जरूर प्रीति, भक्ति का उदय होगा। किन्तु यदि आप ऐसा सोचते हैं कि हमें तो भक्ति की कोई जरूरत नहीं, त्वरा नहीं है, उतावली नहीं है–जब भगवान् को गरज होगी तब वे आकर हमारे हृदय में भक्ति दे देंगे तो आप प्रतीक्षा कीजिये–एक युग, दो युग, एक कल्प, दो कल्प। किन्तु यदि आप अपनी प्रीति को ठीक दिशा देते हैं भगवान् की ओर, अन्तर्जगत् की ओर तो सारे दु:ख जो संसार के हैं, वे मिट जायेंगे और आप सुखी हो जायेंगे। इस जीवन को सुखी करने वाली रसानुभूति से सराबोर करने वाली, परमानन्द अनुभव कराने वाली यदि कोई वस्तु है तो भगवान् की भक्ति ही है।

●●●

:: 5 ::

जिज्ञासा और समाधान–3

'भगवन्! जब प्रलोभन सामने आता है तब एकाएक मैं पराजय के स्थान पर पहुँच जाता हूँ। पता ही नहीं चलता कि मैं कब कैसे कहाँ आ गया?'

'नारायण, विचार करो कि उन प्रलोभनों की सृष्टि कौन करता है? उन्हें सामने कौन लाता है? लोभ उन प्रलोभक वस्तुओं में है या तुम्हारे अन्दर? वे जड़ वस्तुएँ तुम्हें पराजित करने की शक्ति कहाँ से प्राप्त करती हैं?'

वास्तव में दृश्य पदार्थों में सुन्दरता और रमणीयता का आरोप मन ही करता है। भावना ही उन्हें आकर्षक बनाती है। सौन्दर्य की कल्पना देश, समय, व्यक्ति ओर रुचि के भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार की होती रहती है। तुम्हारे मन ने ऐसी वस्तुओं को सुन्दर मान रखा है जो जीवन को परमात्मा से विमुख बनाने वाली हैं। इच्छा से ही उन वस्तुओं के सान्निध्य की अनुभूति होती है। लोभ मन में ही रहता है, उन वस्तुओं में नहीं। जिन वस्तुओं को देख बालक, वृद्ध, ज्ञानी, दूसरी जाति और देश के लोग आकृष्ट नहीं होते, उन्हीं को देख कर तुम्हारा मन आकृष्ट हो जाता है। इसलिए उनमें आकर्षण नहीं, तुम्हारे मन में ही उन्हें पाने की ललक है। मन का अंधापन ही पराजित करता है। वही विवश और अज्ञान बन जाता है। वही तन्मय होकर उन्हें प्रलोभक भी बनाता है।

अब करना क्या है? न विषयों-प्रलोभनों को नष्ट करना है और न तो मन को ही। विषय रहेंगे ही और मन भी रहेगा। केवल भावना का परिवर्तन करना है। किसी भी सुन्दर वस्तु को देखकर उसमें भोग्य-भावना न हो। सब सुन्दर और मधुर वस्तुएँ इसलिए सामने आती हैं कि उनको देखकर सुन्दरतम एवं मधुरतम भगवान् की स्मृति हो। केवल उतने से ही सन्तुष्ट हो

जाना, उनमें ही रम जाना तो महान् हानि है। उन्हें देखते ही अनन्त सौन्दर्य एवं अनन्त माधुर्य की स्मृति में मस्त हो जाओ। उन वस्तुओं का सामने आना विक्षेप नहीं प्रसाद है। प्रसाद भी ऐसा, जो साधारण नहीं, अनन्त शान्ति और अनन्त आनन्द का उद्गम है। तुम अपने मन को उस महात्मा के मन सा बना लो जो एक वेश्या के आने पर मातृस्नेह से मुग्ध और समाधि मग्न हो गया था।

●●●

: : 6 : :

कृपा

भगवान् भगवान् ही हैं। उनका नाम श्रीराम रखो या श्रीकृष्ण। चाहे उनका मुकुट सीधा खड़ा हो या बाँकी अदा के साथ बायें अथवा दाहिने लटक रहा हो। वे ब्रज के वन–निकुंज में गायें चरा रहे हों, गोपियों के साथ छेड़–छाड़ कर रहे हों, या धूलि में लोट रहे हों, अथवा श्री अवध के दरबार में राजसिंहासन पर गम्भीर भाव से बैठकर राज्यकार्य का संचालन कर रहे हों। नाम, पोशाक, काम या गुणों के प्रकटीकरण के भेद से भगवान् में भेद नहीं होता। वे खेलकर, खिलाकर, डाँटकर, पीटकर, नाचकर, गाकर हर हालत में जीवों पर अनुग्रह–दृष्टि की वृष्टि करते रहते हैं।

भगवान् की कृपा और प्रेम अहर्निश एकरस सब पर बरस रहे हैं। सतत सावधान रहकर अपने–आपको और सारे संसार को उससे आप्लुत और आप्यायित अनुभव करना चाहिए। जैसे व्यास (वक्ता) ग्रन्थ के प्रत्येक शब्द का भाव अपने अनुकूल निकाल लेता है, वैसे ही प्रत्येक घटना का अभिप्राय प्रसाद ओर अनुग्रहरूप ही निकालना चाहिए। संसार में केवल वही दु:खी है जो प्रभु के आनन्द–मय करकमलों से सम्पन्न घटना की व्याख्या प्रतिकूल करता है। अपने हृदय को सर्वदा रसमय, मधुमय बनाये रखना चाहिए।

●●●

:: 7 ::

हमें भगवत्प्राप्ति में देर क्यों?

उन दिनों श्रीध्रुव को भगवत्प्राप्ति हुई थी। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि इकट्ठे हुए। परस्पर विचार करने लगे कि हम लोगों ने कठिन-कठिन तप, व्रत, आराधन किये, भगवत्प्राप्ति नहीं हुई। यह नन्हा-सा शिशु। छः मास इसकी तपस्या। भगवान् कैसे मिल गये और हमें भगवत्प्राप्ति में देर क्यों?

निश्चय हुआ कि चलकर ध्रुव से ही पूछा जाये। उनके पूछने पर ध्रुव उत्तर न दे सके; क्योंकि उन्हें अपने में किसी विशेषता का कोई पता नहीं था। ध्रुव के चुप रहने पर महात्माओं ने कहा- 'अच्छा, जब भगवान् मिलें, तब उनसे पूछकर बतलाना।' एक बार भगवान् ध्रुव को मिले तो ध्रुव के प्रश्न करने पर भगवान् ने कहा- 'अभी चलो, घूम आयें, फिर प्रश्नोत्तर।'

दोनों निकल पड़े। सामने विशाल जलराशि। खिले कमल। सारस, हंस तैर रहे। छोटी-सी सुन्दर नाव पर दोनों बैठे। भगवान् ने पतवार अपने हाथ में ली। नाव जल पर तैरने लगी। ध्रुव अपलक नेत्रों से अनूप रूपराशि का पान करने लगे। थोड़ी दूरी पर एक श्वेत पर्वत मिला। ध्रुव ने पूछा- 'प्रभो, यह क्या है?' भगवान् ने कहा- 'यह तुम्हारे अनादिकाल से अबतक के उन जन्मों की हड्डियों का पर्वत है जिनमें तुमने मेरी भक्ति नहीं की थी।'

आगे बढ़ने पर पहले से भी विशाल गगनचुम्बी पर्वत देखकर ध्रुव ने जिज्ञासा की। भगवान् ने कहा- 'ध्रुव! यह तुम्हारे उन जन्मों की हड्डियों का पर्वत है, पहले-से लाखों गुना बड़ा, जिनमें तुमने मेरी भक्ति की है। और जो आज मैं तुम्हें मिला हूँ, तुम्हारी नाव खे रहा हूँ- यह केवल एक जन्म की साधना नहीं है। तुमने मेरे लिए कोटि-कोटि जन्म खपा दिये।'

ध्रुव ने चर्चा की, महात्माओं के प्रश्न का उत्तर मिल गया।

●●●

:: ४ ::

प्रभु का बहीखाता

एक भक्त–'मैंने चोरी नहीं की, फिर भी मुझे कलंक लगा, इसमें हेतु क्या है?'

महाराजश्री–'यह तो प्रभु की कृपा है। वे कभी अन्याय नहीं करते'–
'उसते होय नहीं कछु बुरा'।

तुमने पहले कभी ऐसा अपराध किया होगा। उस समय उसका दण्ड तुम्हें नहीं मिला। अब अवसर आया है, तो थोड़े में काम निकल गया। प्रभु का बहीखाता बहुत बड़ा है। उसमें जमा-खर्च होता रहता है। कभी-कभी बहुत पुरानी लेन-देन निकल आती है। होम करते भी हाथ जलता है और चोरी करते समय भी सुख की वृत्ति बन जाती है। तात्कालिक कर्मों के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। पुराना लेन-देन है।

तुम भगवान् के स्वरूप हो, सेवक हो, पार्षद हो, दुनिया के दास नहीं। अपने हृदय के काम-क्रोधादि चोरों को पकड़कर बन्दी बना लो। भगवान् के पास पहुँचा दो उन्हें पकड़कर। एक मनुष्य चोर को पकड़ने गया तो चोर ने उसे उलटे धमका दिया; परन्तु सिपाही को देखकर दब गया। तुम तो भगवान् के सिपाही हो। तुम्हारे सामने चोरों की क्या मजाल? अपने हृदय की काम-क्रोधादि वृत्तियाँ भगवान् की ओर मोड़ दो।

●●●

:: 9 ::

भगवान् भक्त भक्तिमान्

भगवान् करुणा-वरुणालय हैं। वे अपने भक्त के अपराध को सम्भाल लेते हैं, भक्त की त्रुटि को अपनी त्रुटि समझते हैं।

भगवान् राम अयोध्या में विराज रहे थे। विभीषण लंका का शासन कर रहे थे। वे शिव भक्त थे। नित्य प्रात: लंका से पैदल चलकर श्रीरंगक्षेत्र आते और जम्बुकेश्वर महादेव का पूजन-अर्चन कर लौट जाते। यही उनका नित्य का क्रम था। एक दिन त्वरा में उनके पैर की ठोकर लग जाने से मार्ग में बैठा हुआ एक वृद्ध ब्राह्मण मर गया। नगर में कोलाहल मच गया। विभीषण पकड़ लिए गए। जंजीरों से बाँधकर उन्हें बंदीगृह में डाल दिया गया। अनेक प्रकार की यातनाएँ दी गयीं; किन्तु वे मरे नहीं। भगवान् की कृपा और वर उन्हें प्राप्त जो थे। लौटकर जब वे लंका नहीं पहुँचे, अनेक दिन बीत गए, सभी पुरवासियों को चिन्ता हुई। सम्वाद अयोध्या पहुँचा। भगवान् श्रीराम सुनकर उदास हो गये। शिवजी ने भी यह बात उन्हें बतलायी। भगवान् करुणा-वरुणालय हैं। अपने भक्त का संकट उनसे देखा न गया, स्वयं श्रीरंगक्षेत्र पहुँचे। ब्राह्मणों ने राक्षसराज को उनके सम्मुख उपस्थित किया और प्रार्थना की- 'इसने ब्राह्मण की हत्या की है, हमारे मारने से यह मरा नहीं। आप चक्रवर्ती सम्राट् हैं, आप न्याय करें और इसे दण्ड दें।'

भगवान् ने कहा- 'ब्राह्मणो, लोक में यही प्रसिद्ध है कि सेवक का अपराध स्वामी का ही होता है। इस विधान के अनुसार विभीषण के अपराध का दण्ड मुझे मिलना चाहिए, क्योंकि यह मेरा भक्त है। इसका अपराध मेरा अपराध है। मेरा मरना कहीं अच्छा है, मेरे भक्त का नहीं'-

वरं ममैव मरणं मद्भक्तो हन्यते कथम्।
राज्यमायुर्मया दत्तं तथैव स भविष्यति।।
भक्तापराधे सर्वत्र स्वामिनां दण्ड इष्यते।

भगवान् की करुणापूर्ण वाष्पगद्गद् वाणी सुनकर सभी सभासद विह्वल हो गए। 'धन्य-धन्य' 'जय-जय' के तुमुल घोष से आकाश गुंजरित हो उठा। विभीषण मुक्त कर दिए गए।

●●●

: : 10 : :

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी मनाने का तात्पर्य

बड़े सौभाग्य की बात है कि भगवान् श्रीकृष्ण की जन्माष्टमी हमलोग मनाते हैं। हृदय में तो हमेशा अष्टमी मनती है भला! हर समय वृत्ति में आरूढ़ होकर चेतन अविद्या को दूर करता है। अच्छा, तत्त्वमस्यादि महावाक्य जन्य वृत्ति अज्ञान को दूर करती है कि वृत्त्यारूढ़ चेतन अज्ञान को दूर करता है? अज्ञान निवर्तकत्व वृत्ति में तब तक आवेगा ही नहीं जब तक वृत्ति में चेतन आरूढ़ होगा नहीं। जैसे हाथ के द्वारा क्रिया कब होती है? जब आरूढ़ चेतन हाथ में होता है। अधिष्ठान-चेतन, प्रकाशक चेतन, सामान्य चेतन तो मुर्दे के हाथ में भी होता है। परन्तु, वहाँ हाथ में क्रिया करने की शक्ति नहीं होती है। इसी प्रकार अधिष्ठान चेतन, स्वयं प्रकाश चेतन में अविद्या की निवृत्ति का सामर्थ्य नहीं होता है। अविद्या की निवृत्ति का सामर्थ्य तब होता है, जब वृत्ति में चेतन आरूढ़ होता है। इसलिए वृत्ति की उपाधि से चेतन में ही अविद्या का निवर्तकत्व है, वृत्ति में अविद्या का निवर्तकत्व नहीं है। वृत्ति तो स्वयं अविद्या का कार्य है। इसलिए वह अपने कारण को निवृत्त करने में समर्थ नहीं होती है।

तो नारायण, जो लोग यह मानते हैं कि वृत्त्यारूढ़ होकर चेतन अविद्या को निवृत्त करता है, उनको यह बात जाननी चाहिए कि हृदयारूढ़ होकर परमात्मा अभिनिवेश को निवृत्त करता है, हृदयारूढ़ होकर परमात्मा राग-द्वेष को निवृत्त करता है, हृदयारूढ़ होकर परमात्मा अस्मिता को निवृत्त करता है और वृत्त्यारूढ़ होकर अविद्या को निवृत्त करता है। यही तो उपासना का रहस्य है।

तो जो हम लोग जन्माष्टमी मना रहे हैं हम सब लोगों के हृदय में श्रीकृष्ण का अवतार होवे। हमारे जीवन में जो दुश्चरित्रता है, वह दूर होवे। जो देह की मृत्यु का भय है, वह दूर होवे। जो हमारे अन्दर ज्ञानी-अज्ञानी पने का अभिमान है, सो भी दूर होवे। जब हृदय में श्रीकृष्णावतार होता है

तब यह दूर होता है। मानने की बात जुदा है और समझने की बात जुदा है। अगर आप श्रीकृष्णावतार को समझना चाहते हैं तो आज जन्माष्टमी है, अपने हृदय को श्रद्धा से थोड़ा झुकाकर, अभिमान से थोड़ा मुक्त करके श्रीकृष्णतत्त्व को समझने की चेष्टा कीजिये। और, इसी में जब आप चेष्टा करेंगे तो आपके हृदय में सच्चिदानन्द रूप कृष्णावतार होगा और सम्पूर्ण दोष-दुर्गुणों को मिटावेगा।

●●●

:: 11 ::

सब भगवान् का प्रसाद है!

'प्रभो! स्वादवृत्ति के कारण कभी-कभी बड़ा विक्षेप होता है। कई वस्तुओं के तो स्मरण मात्र से ही जीभ पर पानी आ जाता है। कितना कमजोर मन है! क्या करूँ?'

'नारायण, इसी कमजोर मन से तो काम निकालना है, बलवान मन कहाँ से लाओगे?' प्रसाद की भावना करो, प्रसाद का निश्चय करो, ऐसा न हो सके तो भगवान् को नैवेद्य लगाकर खाओ, भगवान् को ही खिलाओ। तुम्हारी यह जिह्वा-लोलुपता अथवा मन की कमजोरी साधन बन जायेगी और अधिकाधिक भगवान् का स्मरण होने लगेगा। फिर तो यह 'भोजन' का रस 'भजन' का रस बन जाएगा।

अच्छा, प्रसाद की भावना और निश्चय करो कि यह सारा जगत्, जगत् की सारी वस्तुएँ भगवान् का प्रसाद ही तो हैं। वही एकमात्र भोक्ता हैं और सब भोग्य भी। सबका रस- वास्तव में अपना रस- वे स्वयं अपने-आप ही ले रहे हैं। किसी भी वस्तु का रस भगवान् का रस है, ऐसा स्मरण ही साधन है। दूसरी वस्तु हो तब न? वस्तु तो केवल भगवान् ही हैं। कहीं भी विक्षेप की सम्भावना नहीं है।

●●●

:: 12 ::

इच्छा आनन्द की अनुभूति में प्रतिबन्ध है

बात कुछ वर्षों की ही है। गर्मी के दिन थे। मैं स्वर्गाश्रम में था। नित्य की भाँति सत्संग-गोष्ठी उठने पर मैं सायंकाल गंगातट पर चला जाया करता था। एक दिन वालुका-पुलिन पर बैठा था। एक सज्जन आये। बड़ी नम्रता से उन्होंने प्रणाम किया और उदास-से पास में ही बैठ गये। मैंने उनसे कुशल क्षेम और साधन सम्बन्धी चर्चा की तो वह बोले- 'भगवन्! दस वर्ष हो गये भजन करते हुए; परन्तु जीवन में किसी प्रकार की उन्नति नहीं हुई। कोई सफलता नहीं मिली। मुझे कोई लौकिक सुख भी नहीं चाहिए। मैं शपथ खाकर कहता हूँ कि ईश्वर के अतिरिक्त मुझे कुछ नहीं चाहिए।'

मैंने पूछा-'तुम कैसा ईश्वर चाहते हो?'

'केवल आनन्दस्वरूप परमात्मा।'

'मैं जो कहूँगा, वह करोगे?'

'जी हाँ।'

'अच्छा, तो बैठो! तुम आनन्द की इच्छा भी छोड़ दो।'

'जो आज्ञा! छोड़ दी।'

इसके पश्चात् वह शान्त हो गये। समाधिस्थ घण्टों बैठे रह गये। उनके मुख पर दिव्य आभा छा गई। आनन्द मानों रोम-रोम से फूटा पड़ रहा था।

उठने पर उन्होंने बताया कि 'जैसा सुख, जैसा अनिर्वचनीय आनन्द आपकी कृपा से मुझे आज आया है वैसा अब तक कभी नहीं आया। इस सुख के आगे मैं संसार के किसी भी सुख को कुछ नहीं गिनता।'

किसी वस्तु की इच्छा और अनुभूति - दोनों एक काल में नहीं होते। इच्छा ही आनन्द की न्यूनता या अभाव का सूचक है। उसके त्याग से ही आनन्द की अनुभूति होती है।

●●●

:: 13 ::

धर्म निष्ठा का फल

प्राचीन समय में अंगिरा ऋषि के पुत्र सुधन्वा और प्रह्लाद के पुत्र विरोचन दोनों में एक सुन्दरी स्त्री के लिए यह विवाद चल पड़ा कि कौन श्रेष्ठ है? दोनों ही अपने-अपने को श्रेष्ठ बतला रहे थे। प्राणों की बाजी लग गई- जो श्रेष्ठ हो, वह जीते; जो हार जाये, वह प्राण-त्याग करे। इस विवाद निर्णय के लिए वे प्रह्लाद के पास गये। दोनों की बात सुनकर प्रह्लाद बड़ी चिन्ता में पड़ गये; वे न तो अधर्म चाहते थे और न तो दोनों में से किसी की मृत्यु। उन्हें असमंजस में पड़े देखकर सुधन्वा ने कहा- 'दैत्यराज! यदि तुम पुत्र-स्नेह के कारण झूठ बोलोगे या कुछ उत्तर न दोगे तो इन्द्र वज्र के प्रहार से तुम्हारे सिर के सौ टुकड़े कर देंगे। प्रह्लाद महात्मा कश्यप के पास गये। उन्होंने महात्मा कश्यप से कहा- आप कृपा करके बताइये- जो कोई प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर नहीं देता या जान-बूझकर झूठ बोलता है, उसे मरने पर कौन से लोक प्राप्त होते हैं?' कश्यप ने कहा- 'जो क्रोध या भय के कारण जान-बूझकर प्रश्नों का उत्तर नहीं देता अथवा झूठ बोलता है, उसे मृत्यु के पश्चात् वरुण की फाँसी में लटकना पड़ता है। जो साफ-साफ सत्य न कहकर गोलमटोल बोलकर दोनों पक्षों का जी रखना चाहता है, उसकी भी वही गति होती है। जिस सभा में अधर्म के द्वारा धर्म दबाया जाता है और सभ्य लोग धर्म पक्ष न लेकर मौन ग्रहण कर लेते हैं, उस सभा के सभ्यों को भी अधर्म होता है। जहाँ निन्दा करने योग्य कर्म की निन्दा नहीं होती, वहाँ पर सबसे श्रेष्ठ पुरुष को अधर्म का आधा पाप लगता है। आधे का आधा पाप कर्म करनेवाले को और बाकी सभासदों को। जहाँ निन्दनीय पापकर्म की निन्दा की जाती है, वहाँ औरों को पाप नहीं लगता, केवल करनेवाले को ही लगता है। प्रश्न का अन्यथा उत्तर देने पर उसके

पुण्य तो नष्ट हो ही जाते हैं, साथ ही सात पीढ़ी आगे और सात पीढ़ी पीछे के लोग भी नरक में जाते हैं।'

कश्यप के ये उपदेश सुनकर प्रह्लाद ने अपने पुत्र से कहा– 'बेटा विरोचन! तुम्हारी माता से सुधन्वा की माता श्रेष्ठ हैं, तुम्हारे पिता से अर्थात् मुझसे सुधन्वा के पिता श्रेष्ठ हैं। और, तुमसे सुधन्वा श्रेष्ठ है। अब ये सुधन्वा तुम्हारे प्राणों के स्वामी हैं।' प्रह्लाद की बात सुनकर सुधन्वा बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा– 'दैत्यराज! तुमने अपने पुत्र के प्राणों की परवाह न करके धर्म की रक्षा की है, इसलिए मैं तुम पर प्रसन्न हूँ और यह नहीं चाहता कि तुम्हारे पुत्र की मृत्यु हो। यह सौ वर्षों तक जीवित रहे और सुख भोगे।

इस प्रकार धर्म निष्ठा के फलस्वरूप प्रह्लाद ने अपने पुत्र की रक्षा कर ली।

:: 14 ::

शान्ति का उपाय

कच ने सम्पूर्ण शास्त्रों के स्वाध्याय एवं मीमांसा के अनन्तर पिता के सामने निवेदन किया– 'पिता जी, सब जान लिया, परन्तु शान्ति नहीं मिली।'

बृहस्पति ने कहा– 'बेटा, त्याग के बिना शान्ति नहीं मिलती।'

और उसने सब कुछ त्याग दिया। केवल कौपीन–कमण्डलु रखकर वर्षों व्यतीत हुए। एक वर्ष, दो वर्ष, तीन वर्ष – त्याग का संकेत मिलने पर कौपीन–कमण्डलु भी छोड़ दिया। फिर भी शान्ति नहीं मिली। पिता के संकेत पर चिता जलाकर शरीर भस्म करने के लिए उद्यत हुआ। पिता ने हाथ पकड़ लिया, बोले– 'बेटा, जब तक वासनाओं से भरा चित्त है, उसके प्रति अहंता–ममता है, तब तक देह भस्म करने से कुछ न होगा। वासना के अनुसार देह पर देह मिलते जायेंगे। वस्तुतः देह का त्याग – त्याग नहीं है, चित्त का त्याग ही त्याग है। चित्त–त्याग ही शान्ति है, चित्त–त्याग ही मुक्ति है।'

कच– 'चित्त त्याग की युक्ति क्या है, पिताजी?'

बृहस्पति– 'अपने आत्मा को ब्रह्म जान लेने से चित्त, चेत्य और चित्ति अर्थात् त्रिपुटी का बाध हो जाना ही चित्त का सच्चा त्याग है। फिर तो फुरता हुआ चित्त भी अकिंचित्कर है।'

●●●

:: 15 ::

भक्ति के साधन

१. शुद्ध भोजन

२. जो वस्तु भक्तिभाव के विरुद्ध हो, उसे त्याग देना।

३. सबका भला करना।

४. भगवान् की प्रसन्नता के लिए पूजा, पाठ, जप, दानादि करना।

५. संसार में मन के विपरीत कुछ भी हो जाने पर दु:खी न होना।

६. अपनी इच्छानुसार हो जाने पर प्रसन्नता से फूल न उठना।

७. हर हालत में भगवान् की कृपा देखना, व उसपर विश्वास करना।

इन पाँच नियमों को धारण करने वाला मनुष्य ईश्वर को प्रिय होता है:-

१. किसी को जान-बूझ कर कष्ट न देना।

२. दूसरे के हक को न दबाना।

३. पर-स्त्री पर कुदृष्टि न डालना।

४. यथाशक्ति झूठ न बोलना।

५. भगवान् के लिए कुछ समय अवश्य निकालना।

इन सात नियमों पर चलने से संसार का दु:ख नहीं व्यापता और ईश्वर भी प्रसन्न होता है:-

१. अपने घर में भगवान् के लिए एक निश्चित स्थान हो।

२. कुछ न कुछ समय भगवान् के लिए अवश्य निकाला जाय।

३. ईश्वर की सेवा-पूजा का कुछ काम अवश्य करे।

४. अपने इष्ट पर न्यौछावर करके यथाशक्ति कुछ न कुछ नित्य गरीब को दे।

५. भगवान् के नाम जप, कीर्तन कम से कम पन्द्रह मिनट अवश्य करे।

६. अपने हृदय को श्रद्धा, स्नेह से तर रखे।

●●●

:: 16 ::

साधना के सूत्र

जहाँ अपना प्रियतम सम्मुख होता है वहाँ साधना का रस प्रत्यक्ष मिलता है। अपना प्रियतम सातवें आसमान में नहीं, यहीं धरती पर है। उसी के लिए यह जीवन-ज्योति जल रही है। वह देखकर केवल एकबार मुस्करा भर दे जीवन सफल हो जाय।

भक्त के लिए यह आवश्यक है:-

१. भगवान् को कभी दुर्लभ न समझना।

२. अपने मन को अपने ही दोषों, सम्बन्धियों और सुहृदों के पास न भटकाना।

३. भगवान् अपनी कृपा से ही मिलते हैं। किसी मूल्य से नहीं, यह विश्वास।

४. भगवान् अन्तर्यामी हैं, सर्वज्ञ हैं।

५. हमारे दिल की बातों को वे पूरी कर सकते हैं, सर्वशक्तिमान् हैं।

६. दयालु इतने हैं कि उन्हें पूर्ण किये बिना रह नहीं सकते।

सोने से दो-मिनट पूर्व यह भावना करो कि भगवान् के दोनों चरण पकड़ कर मैं सो रहा हूँ और उठने के बाद दो मिनट तक सोचो कि मैं भगवान् के चरण पकड़ कर ही सोया था। छः महीने के अभ्यास के बाद तुम्हें आनन्द ही आनन्द आयेगा और तुम्हारी छः घण्टे की सुषुप्ति समाधि ही जायेगी।

संसार के सारे सुख मिलकर भी भगवान् के सुख-सिन्धु के एक बिन्दु के तुल्य भी नहीं हैं- ऐसा ख्याल करने से भगवान् को प्राप्त करने की इच्छा होती है। क्योंकि मनुष्य सुख ही सुख चाहता है और वह सत्य-सुख केवल ईश्वर में ही मिल सकता है, अन्यत्र नहीं।

अपने हृदय में इतनी प्रसन्नता हो कि भगवान् प्रेम के अधीन होकर हमारे हृदय में आ विराजें और फिर कभी जाएँ ही नहीं।

सबको सुख देते चलो, किसी न किसी रूप में भगवान् मिल ही जायँगे। सबको भगवान् मानकर सेवा करते जाओ - देखो, वे मिलते हैं या नहीं।

रहिमन या जग आइकै सबसे मिलिये धाय।
ना जाने किहि वेष में नारायण मिलि जाय।।

: : 17 : :

दुःख आगमापायी

एक बहिन कार दुर्घटना में घायल हो गयी। उसके शरीर की तीन जगह से हड्डियाँ टूट गयी थीं। सारा शरीर पट्टियों से बँधा था। उसके पति, दो बच्चे और नौकर भी मर गए थे, केवल गोद का शिशु बचा था। एक दिन मैं उसे देखने मथुरा गया। उसके समीप बैठे एक सज्जन ने पूछा– 'तुमने तो सत्सङ्ग बहुत किया है, फिर यह कष्ट क्यों मिला?' मैं तो चुप रहा; परन्तु वह लड़की बोली– 'सत्संग का फल यह नहीं है कि जीवन में कष्ट न आयें। और वे आते हैं; परन्तु हमारा उनसे तादात्म्य नहीं होता, उनसे हमें विक्षेप नहीं होता। वे आगमापायी हैं, इसलिए हम दुःख में, पीड़ा में भी शान्त हैं।' सुनकर वे सज्जन गद्‌गद् हो गए।

अरे अमृत! क्यों डरे मृत्युभय से

मृत्युंजय-शरण ग्रहण कर।

इससे होगा क्या, मैं-मति की मृत्यु

प्रथम क्षण, इसे वरण कर।

मैं अपने को क्या भूला या क्या जाना यह किसे सुनाऊँ?

भूला अपनी मस्ती में फिर जाना तो क्या खुशी मनाऊँ?

भले भूल जाऊँ या जानूँ पर मैं तो ज्यों-का-त्योंही हूँ।

मृत्यु-अमृत के अनृत सन्धि-कौशल का कारीगर यों ही हूँ।

●●●

:: 18 ::

क्रोध क्यों?

सब आत्मा है- क्रोध किस पर?

क्या स्थाणु में प्रतीयमान चोर पर भी लाठी-प्रहार?

सब भगवान् या उनकी लीला है। प्रत्येक घटना ही प्रेमपूर्ण है।

सब प्रकृति का खेल है। इसमें अच्छा-बुरा क्या?

अपने स्वभाव से विवश लोगों की चेष्टा पर ध्यान ही क्या?

हमारा अन्तःकरण इन विचारों को आत्मसात् कर चुका है। अब उसमें क्रोध असम्भव है।

मैं जीवन भर अब कभी क्रोध नहीं करूँगा-ऐसा दृढ़ निश्चय है।

अनुकूलता-प्रतिकूलता के भाव अज्ञानमूलक हैं- ये क्रोध की नींव हैं।

जो मेरे मन और शरीर के प्रतिकूल क्रिया करता है, वह मुझे उनसे ऊपर उठने की प्रेरणा देता है। जहाँ कोई निशाना लगायेगा, मैं उससे ऊपर हूँ।

क्या यह घटना इतनी महत्त्वपूर्ण है कि मैं अपने चित्त का प्रसाद खो दूँ?

मुझे कोई कामना नहीं है, फिर किस कामना की पूर्ति में बाधा होने पर क्रोध करूँ?

●●●

:: 19 ::

विरक्त साधक के लिये

१. संसार की अनित्यता एवं दु:खरूपता का अनुभव

२. उसके त्याग का दृढ़ संकल्प। जैसे,

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः।।

इस प्रकार की लालसा का बार-बार होना।

३. इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, सांसारिक प्रवृत्तियों से उदासीनता, कष्ट सहिष्णुता, श्रद्धा और इष्ट में एकाग्रता।

४. मुझे क्या मिलेगा- इसका विचार न करके केवल वर्तमान वासना-बन्धन से मुक्ति की इच्छा।

५. वासनापूर्ति से दु:ख और निवृत्ति से सुख का स्वभाव बनाना।

६. यथाशक्ति तीनों तप धारण करना।

७. सप्त महाव्रतों का भी ध्यान करना। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अस्वाद और अभय- यही सप्त महाव्रत हैं।

८. निद्रा छः घण्टे से अधिक नहीं।

९. भोजन असंकल्पित और आवश्यक।

१० आसन नित्य तीन घण्टे।

११. जप मौन होकर अधिक से अधिक

बुद्धि की अशुद्धि ही जीवन की अशुद्धि है। जिसकी बुद्धि अशुद्ध है उसकी वासना, क्रिया सभी अशुद्ध हैं।

असङ्ग आत्मा का बोध अनन्त है। जीवन एक व्यक्ति है। जीवन्मुक्त का व्यवहार व्यक्तिगत है। वह शुद्ध ही होना चाहिए। उसमें प्रलोभन और पीड़ा के लिए कहीं स्थान नहीं।

योगी लोग वृत्ति से दु:ख हटाकर सुख भरते हैं। उपासक इष्टदेव को बसाता है। वेदान्ती दु:ख को हटाता है, सुख को भी हटाता है- इष्टदेव को भी हटाता है।

वह यदि किसी वृत्ति का स्थापन करे तो फिर उसे भी हटना ही पड़ेगा। इसलिए स्वाद और पीड़ा दोनों मिथ्या हैं, बाधित हैं, प्रतीतिमात्र हैं। ऐसा ज्ञान उन सबपर कुठाराघात है।

यदि तुम्हें अनुभव होता है कि वृत्तियाँ मेरे सामने उछल-कूद मचाती रहती हैं, तो इसका अर्थ हुआ कि तुम उनके प्रकाशक हो। कोई भी प्रकाश्य वस्तु अपने प्रकाशक से अलग नहीं होती। यदि तुम अपने प्रकाशक स्वरूप का अनुसन्धान करो, वृत्तियों से काम लेना बन्द करो तो देखोगे कि कोई वृत्ति नहीं है। तुम उनसे काम लेते हो, यही उनका काम बना रहना है।

:: 20 ::

धर्म नियंत्रित जीवन

कोई मनुष्य चाहे वह कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो अपनी सब इच्छाओं को पूर्ण नहीं कर सकता।

१. भोग की इच्छाएँ

२. संग्रह की इच्छाएँ

३. कर्म की इच्छाएँ

ऐसी स्थिति में आवश्यक है, कि इनमें छाँट की जाय।

१. कौन-कौन पूरी की जायँ।

२. कौन-कौन छोड़ दी जायँ।

३. किन्हें प्राथमिकता दी जाय।

४. किस एक के पूर्ण होने से और सब पूर्ण हो जाती हैं या मिट जाती हैं?

इस विवेक से धर्म का प्रारम्भ होता है, बिना इच्छाओं में काट-छाँट या नियंत्रण से मनुष्य जीवन चल नहीं सकता, इसलिए संग्रह, भोग एवं कर्म पर विवेकानुसारी धर्म का नियंत्रण होना आवश्यक है।

कर्म, भोग और संग्रह की इच्छाओं की मूल प्रेरणा एवं उद्देश्य के सम्बन्ध में विचार करने पर ज्ञात होता है कि उन्हें भी साधारण रूप से तीन भागों में बाँट सकते हैं।

१. जीवन सम्बन्धी-मृत्यु, रोग, भूख, ठण्ड, निर्बलता आदि से बचने के लिए सामग्रियों की आवश्यकता।

२. ज्ञान सम्बन्धी- कहीं मूर्ख न बनना पड़े, इसके लिए ग्रन्थ, पाठशाला, पर्यटन, चिन्तन, सत्संग आदि ज्ञान-रक्षक एवं वर्धक सामग्री।

३. आनन्द सम्बन्धी- इन्द्रिय और मन को अभाव, दु:ख, चिन्ता आदि से बचाकर प्रफुल्ल-प्रसन्न करने के लिए सामग्री।

●●●

:: 21 ::

वैराग्य

जीवन में सच्चाई को जानने के लिए वैराग्य की जरूरत है।

तो वैराग्य माने क्या?

'वैराग्य' उसका नाम नहीं है कि किसी की निन्दा करके उससे घृणा करा दी जाए। घृणा में तो निकृष्टबुद्धि होती है तो निकृष्टता की वृत्ति बनती है। **'वैराग्य'** माने द्वेष करना नहीं। द्वेष में तो शत्रु मन में रहता है। **'वैराग्य'** माने किसी के गुण में दोष निकालना अर्थात् असूया नहीं। **'वैराग्य'** माने जो विषय में राग-द्वेष है, उसका शैथिल्य। आत्यन्तिक अभाव भी नहीं। राग-द्वेष का आत्यन्तिक अभाव चित्त के रहते नहीं हो सकता। तत्त्वज्ञान होने पर भी रहेगा। परन्तु बाधित रूप से रहेगा, यह बात दूसरी है। मिथ्यात्व निश्चय पूर्वक रहेगा। लेकिन चित्त के रहते रागाभास, द्वेषाभास किंचित् अन्तःकरण में रहेगा ही। नहीं तो क्या क्या खायें, क्या न खायें; कहाँ चलें, कहाँ नहीं चलें; क्या देखें, क्या नहीं देखें- इसका विवेक ही नहीं होगा।

अच्छा **'वैराग्य'** शब्द का अर्थ हिमालय में भागना नहीं है। ये जो गाँव के लोग होते हैं वे कहते हैं कि अमुक महाराज बड़े वैरागी हैं। कैसे? इन्होंने बारह वर्ष से आलू नहीं खाया। अब बताओ, आलू छोड़ने से भला कोई वैरागी हो जाता है? बोले कि दस वर्ष से इन्होंने सिला हुआ कपड़ा ही नहीं पहना। इसका नाम वैराग्य नहीं होता। **'वैराग्य'** उसको बोलते हैं, जहाँ मन में विषयाकार-वृत्ति नहीं है। माने विषयाकार वृत्ति है तो बाधित है, आभासमात्र है। विषय के मिथ्यात्वज्ञान पूर्वक चित्त में विषय का होना अर्थात् बिना बाध के वैराग्य पक्का नहीं होता। माने महत्त्व-बुद्धि से यह बिलकुल नहीं है कि अमुक-अमुक हमारा कुछ बना देगा और अमुक-अमुक कुछ बिगाड़ देगा।

●●●

:: 22 ::

जगत् एक नाटक है या उसकी लीला!

श्रवण, मनन और निदिध्यासन से जब यह निश्चय हो गया कि सब कुछ परमात्मा है, तब यह भला है, यह बुरा है, इस प्रकार की दृष्टि ही क्यों होती है? यह भला है- इस प्रकार की दृष्टि तो यथाकथंचित् क्षम्य भी है, परन्तु बुरे की कल्पना तो सर्वथा विपर्यय है। यदि सर्वथा समत्व न रहे, वैषम्य हो ही जाय, तो अपनी दृष्टि भले पर ही जानी चाहिए। परन्तु भले-बुरे की भावना और सत्ता को दृढ़ करने की क्या आवश्यकता; उन्हें तो शिथिल करना चाहिए। यदि प्रतीत होता है भला-बुरा, तो वह लीला विलास ही है, नाटक मात्र है। नाटक के भीम और दुर्योधन दोनों ही मनोरंजन के लिए हैं। नाटक की मृत्यु, रोग और उत्पीड़न रसानुभूति के लिए है। अद्भुत, रौद्र, भयानक और वीभत्स भी तो रस ही है! तब इनसे क्षुब्ध होने का क्या कारण है?

यह भी आवश्यक नहीं कि नाटक को नाटक के रूप में स्मरण रखा ही जाय; नाटक देखते-देखते उसका नाटकत्व भूल जाना तो नाटक की अपूर्व सफलता और मनोहरता का चिह्न है। उस विस्मृति में भी यह निश्चय अडिग रहे कि यह नाटक है। जो अभिनय अपने को मिले उसको पूर्ण करो और खूब सफलता के साथ। वैसे कठोर कर्त्तव्यों का भी पालन करो, भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति जिनका पालन भीष्म को करना पड़ा था। बस ध्यान रहे, व्यावहारिक जगत् एक नाटक है और मैं उसका पात्र तथा द्रष्टा हूँ, भला-बुरा कुछ नहीं, सब लीला है।

●●●

:: 23 ::

आसक्ति मत करो - आगे बढ़ो

वैराग्य के लिए परमात्मा को जानने की जरूरत नहीं है। वैराग्य के लिए तो संसार को जानने की जरूरत है। जो लोग संसार में फँसे हुए हैं- ये संसार के रहस्य को नहीं जानते हैं। जहाँ फँसे हुए हैं, उसी के रहस्य को नहीं जानते हैं। न धन का रहस्य जानें, न भोग का रहस्य जानें, न सोना आवे और न ही खाना आवे। यद्यपि विद्वान् पुरुष की बुद्धि भी रजोगुण और तमोगुण से विक्षिप्त हो जाती है; परन्तु विषयों के प्रति दोष-दृष्टि होने से वह उनमें फँसता नहीं। यह मत समझना कि विद्वान् पुरुष के मन में काम नहीं आता, क्रोध नहीं आता, लोभ नहीं आता। वह तो सैंकड़ों जगहों के संस्कार मनुष्य में आये हुए होते हैं- इसलिए, यदि मन में कोई विकार आ जाए तो पागल नहीं हो जाना कि हाय-हाय, हमारे मन में तो यह आ गया, वह आ गया। इसके लिए डरना नहीं। कभी ऐसा मत समझना कि कोई ऐसी बात कभी मन में आ गयी तो हमारा नाश ही हो गया। यह तो बड़े-बड़े विद्वानों के मन में भी, साधुओं के मन में भी विकार आ जाते हैं; व्यास-वशिष्ठ के मन में भी आते हैं- ऐसा वर्णन शास्त्रों में है। लेकिन आ गए तो आ गए- उनके वश में मत हो जाओ। गिरे तो गिरे, फिर उठो। तन्द्रा मत करो। जहाँ गिरे हो, वहाँ दोष-दृष्टि करो और फिर से मन को पकड़कर अच्छी जगह लगाओ। वहाँ आसक्ति मत करो, आगे बढ़ो। संसार में दोष-दृष्टि करो और आनन्द से परमात्मा की ओर चलो।

●●●

:: 24 ::

मोक्ष आत्मा का स्वरूप ही है

अन्न आत्मा नहीं है। विष्ठा और भस्म भी आत्मा नहीं हैं। फिर दोनों के बीच की अवस्था देह और इन्द्रियाँ आत्मा कैसे हो सकती हैं? जिसकी पूर्वावस्था आत्मा नहीं है और परावस्था आत्मा नहीं है, वह वस्तु मध्य में भी अविद्या से आत्मा मानी हुई है।

जैसे एक ही बीज पुआल, भूसी और चावल-तीन रूप धारण करता है, वैसे ही भोजन किया हुआ अन्न विष्ठा, मांस और बुद्धि का रूप ग्रहण करता है। यह सब जड़ के विकार हैं, आत्मा नहीं।

धर्म चरित्रशुद्धि के द्वारा अन्तःकरण-शुद्धि का हेतु है, इसलिए वह तत्त्वज्ञान में परम्परा साधन है। शम-दमादि ज्ञान के कारण अर्थात् अन्तःकरण के शोधक हैं, इसलिए बहिरंग साधन हैं। श्रवण-मननादि जीव-पदार्थ अर्थात् ईश्वर और जीव के स्वरूप के शोधक हैं, अतः अन्तरंग साधन हैं। अविद्या की निवृत्ति केवल तत्त्वज्ञान से होती है, इसलिए मोक्ष का साक्षात् साधन तत्त्वज्ञान ही है। तत्त्वज्ञान से अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की निवृत्ति नहीं होती, बल्कि नित्य प्राप्त में अप्राप्ति का और नित्य निवृत्ति में अनिवृत्ति का जो भ्रम होता है उसकी निवृत्ति होती है। इसलिए मोक्ष अपने आत्मा का स्वरूप ही है। अर्थात् आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म ही है।

●●●

:: 25 ::

व्यवहार और परमार्थ का ऐक्य

वेदान्त की एक ऐसी ग्रन्थि है जो अपने आप पढ़ने वाले या व्याख्यान सुनने वालों की समझ में नहीं आती। यह वेदान्त की ग्रन्थि क्या है? वेदान्त में उपाधि अनादि है, माया अनादि है, मायोपाधिक ईश्वर अनादि है और कार्योपाधिक जीव अनादि है और ईश्वर-जीव का सम्बन्ध अनादि तथा जगत् अनादि है और शुद्ध-ब्रह्म, वह ब्रह्म भी अनादि है। अरे वेदान्तियो, जब तुम्हारे यहाँ छः अनादि हैं, तब तुम अपने को अद्वैती क्यों कहते हो? बोले कि नहीं, हम षड्वादी नहीं हैं, पर छः अनादि हैं- यह मानते हैं। क्यों? अनादि-अनादि में भी फर्क है। ब्रह्मज्ञान होने पर ब्रह्मातिरिक्त अनादि पदार्थ प्रतीत होते हुए भी मिथ्या हो जाते हैं और शुद्ध चित् जो ब्रह्म है, वह अनादि है और ज्ञान से मिथ्या नहीं होता। वही परमार्थ सत्य है। तो क्या हुआ कि जब ब्रह्मज्ञान हो जाता है तो ईश्वर भी भासता है, जीव भी भासता है, माया भी भासती है, जगत् भी भासता है और इनका परस्पर सम्बन्ध भी भासता है। परन्तु सत्य रूप से नहीं भासता है, मिथ्यारूप से भासता है। और, ब्रह्म तो अपना आत्मा ही है। उसका तो कभी अभान होता ही नहीं है। वह तो सबका भासक है, सबका प्रकाशक है। अब फर्क क्या पड़ता है - उस पर ध्यान खींचते हैं।

देखो, जो लोग आत्मा को दुनिया से निराला असंग मानते हैं, उनको जब आत्मा का अनुभव होगा तब दुनिया भासेगी नहीं। माने व्यवहार का लोप हो गया। सांख्य या योग का द्रष्टा, जब समाधि लगाकर अपने स्वरूप में बैठेगा, तब उसको दुनिया का भान नहीं होगा। और, जब वह दुनिया में वृत्ति से तादात्म्यापन्न हो जायेगा तो अपने असंग कैवल्य का अनुभव नहीं होगा। वृत्ति टिकी नहीं। तो, वेदान्त न तो यह कहता है कि ज्ञान हो जाने के बाद संन्यास ही जरूरी है और न यह कहता है कि समाधि ही जरूरी है, न

यह कहता है कि वैकुण्ठ जाना ही जरूरी है; न यह कहता है कि पहाड़ में जाना जरूरी है। वह कहता है कि बाबा, यह माया तो नित्य उपाधि है, किन्तु मिथ्या है और इस उपाधि से ईश्वर भी नित्य है, इसका कार्य भी नित्य है और कार्य की उपाधि से जीव भी नित्य है। इसका सम्बन्ध भी नित्य है। नित्यता दूसरी चीज है और अबाधित सत्य होना दूसरी चीज है। मैं दावे के साथ यह बात कहता हूँ कि अपने आप वेदान्त की किताब पढ़ने वालों को यह बात समझ में नहीं आवेगी! यह बिलकुल सद्गुरु की लीला है।

इसका अर्थ हुआ कि भक्त को जो वैकुण्ठ का भान होता है सो भी ठीक है और योगी को जो समाधि का भान होता है, सो भी ठीक है और संसारी को जो प्राकृत प्रपंच का भान होता है, सो भी ठीक है। परन्तु, वे जो इनको सत्य मानते हैं- यह अविद्या है। और, जिसको अद्वैत का अनुभव हो गया है- उसके सामने भी जगत् भास जाये, चमक जाये तो क्या? अरे, यह भी अपनी ही चमक है, अपनी दमक है, अपनी झलक है। यह सृष्टि तो आत्मा रूप हीरे की चिलक है। तो ठीक है- माया भी चिलक, छाया भी चिलक। जीव-ईश्वर भी चिलक और इनका सम्बन्ध भी चिलक। परम सत्य कौन है? वही प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्म-तत्त्व परम सत्य है!

●●●

:: 26 ::

जीवनोपयोगी सूत्र

चार बात पर किसी का कन्ट्रोल हो जाए तो समझलो कि वह सत्पुरुष हो गया-

एक, हम इकट्ठा क्या करते हैं? जो कायदे से हो, उसको इकट्ठा करें और बेकायदे हो तो इकट्ठा न करें।

दूसरी, हम भोगते क्या हैं?

खाना, पीना, औरत, मर्द-इस पर हमारा कन्ट्रोल है कि नहीं?

तीसरी, हम बोलते क्या हैं?

यह दुनिया का जो व्यवहार है, अगर आपको सीखना हो तो इतना सीख लीजिये कि यदि आपको बोलना आता है तो आप दुनिया के व्यवहार में हमेशा सफल होंगे। जितना बोलना जरूरी हो उतना ही बोलिये। जहाँ तक हो सके झूठ बोलने का मौका आवे तो उसको बोले बिना टाल दीजिये। बोलिये तो प्रिय बोलिये! जिससे बोलिये, उसकी भलाई की बात हो तब बोलिये। मौके से बोलिये। भोजन करने बैठे और होने लगी जुलाब की चर्चा कि आज हमने जुलाब लिया था तो ऐसी-ऐसी टट्टी हुई! ब्याह में इकट्ठे हुए तो चर्चा करने लगे कि उनके घर में जब मौत हो गई थी। तो ब्याह में मातमपुर्सी की चर्चा करने लगे। तो बोलने का भी कोई मौका होता है। जरूरत हो तब बोलना चाहिए। बिना जरूरत नहीं बोलना चाहिए।

चौथी, जब हम अकेले में बैठते हैं, तब हमारे मन में क्या आता है? दुश्मन की बात आती है कि दोस्त की बात आती है कि चोरी-बेईमानी की बात आती है।

ये चार बातें जिसके जीवन में बिलकुल ठीक हैं, उसका जीवन पक्का हो जाता है।

●●●

:: 27 ::

प्रेरक प्रसंग

एक बार महाराजश्री से बातचीत के दौरान एक सज्जन बोले कि 'आम जनता मन्दिरों के उत्सव की भीड़-भाड़ में बहुत जाती है, पर मुझे भीड़ में जाना नहीं रुचता। मैं तो एकान्त में बैठकर जपादि करना अधिक श्रेष्ठ मानता हूँ'।

महाराजश्री ने कहा- 'भैया! तुम तो केवल दो तोले की जीभ को ही प्रभु की सेवा में लगाते हो और वे दो मन के शरीर को ले जाकर प्रभु की सेवा में उपस्थित होते हैं।'

एक बार सत्सङ्ग हो रहा था। एक व्यक्ति के बारे में किसी ने महाराजश्री से कहा- 'उसे तो उच्छिष्ट-अनुच्छिष्ट का कोई विचार ही नहीं है।' महाराजश्री ने उत्तर दिया- 'नारायण, वह अपने भाव में मग्न हमेशा जगन्नाथ-पुरी में रहता है और वहाँ इस बात का कोई विचार नहीं माना जाता।

एक बार महाराजश्री श्रीसाईं साहब के साथ बैठे थे। तभी महाराजश्री के पास एक पागल प्रेमी आया और उनके पास ही तख्त पर बैठकर उनसे लिपट गया। सेवकों ने उसे रोका। उसके जाने पर श्रीसाईं साहब ने मुस्कुराते हुए कहा- 'ऐसे आदमी से तो भय रखना चाहिए। इनकी मनोवृत्ति का क्या ठिकाना?' महाराजश्री तुरन्त मुस्कुराते हुए बोले- 'मुझे तो प्रसन्नता हो रही थी कि कोई तो हमारा आशिक हुआ।'

किसी का भी दोष देखना असल में पूज्य महाराजश्री का स्वभाव ही नहीं था।

●●●

:: 28 ::

प्रसंगों में सूक्तियाँ

एक दिन किसी स्त्री ने श्रीमहाराज जी से प्रार्थना कर कहा– 'आशीर्वाद दीजिये कि भगवान् श्रीकृष्ण में मेरी दृढ़ भक्ति हो।' श्रीमहाराज जी ने कहा– 'बस! तुम इसी तरह, जड़-चेतन जो भी तुम्हारे सामने आये, उसे प्रणाम कर श्रीकृष्ण-भक्ति की याचना करती रहो, तुम्हें शीघ्र ही उसकी प्राप्ति हो जायेगी।' फिर मुझसे कहा– 'इस लालसा का दृढ़ होना ही तो भक्ति है।'

किसी भक्त ने श्रीमहाराज जी से प्रश्न किया– 'अनन्य भक्त कौन?' श्रीमहाराज जी ने उत्तर दिया– 'जो आठों पहर अन्तर्मुख रहता हो।' इस पर श्रीसाईं साहब ने कहा– 'ऐसा भजन तो आप ही करते हैं।' श्रीमहाराज जी ने कहा– 'मैं भजन नहीं करता, बल्कि भगवान् ही मेरा भजन करते हैं। उनका अनुग्रह देखकर ही मेरा हृदय आनन्द से गद्‌गद रहता है। बात असल में यह है कि जीव में तो उनके भजन करने की शक्ति ही नहीं। जो कुछ होता है, उनकी दया से ही होता है।

●●●

:: 29 ::

ईश्वर का सच्चा सन्देश

ये वासनाएँ बड़ी प्रबल होती हैं और उनके रूप बड़े सूक्ष्म होते हैं। जन्म-जन्म के संस्कार होते हैं। जब मनुष्य ध्यान करने बैठता है, समाधि लगाने बैठता है, तब ये वासनाएँ ही ईश्वर का रूप धारण करके आती हैं, ईश्वर का सन्देश बनकर आती हैं और ईश्वर का ज्ञान बनकर आती हैं। अपनी वासनाएँ ही देवता बन करके आती हैं, बड़े-बड़े महापुरुष का रूप धारण करके आती हैं और वे ऐसी-ऐसी बातें बताती हैं कि लोग उनके चक्कर में फँस जाते हैं। इसलिए, जो प्रेरणा वेदानुकूल नहीं है, वह तो वासनात्मक है।

जो प्रेरणा तत्त्वमस्यादि महावाक्य के साधन के रूप में नहीं है, वह वासनात्मक है। जिससे तत्-पद वाच्यार्थ में स्थिति, त्वं-पद वाच्यार्थ में स्थिति और दोनों के लक्ष्यार्थ का बोध हो करके अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती, वह वासनात्मक है। जिसमें योग नहीं, जिसमें उपासना नहीं, जिसमें तत्त्वज्ञान नहीं, जो अन्तर्मुखता की पराकाष्ठा पर पहुँचा करके वेद के परम तात्पर्य का ज्ञान कराने वाला नहीं है, उसको जो ईश्वर का सम्पर्क-सन्देश मिलता है, वह झूठा-काल्पनिक-वासनात्मक है। पचास-पचास वर्ष एकान्त में बैठने वाले, ध्यान लगाने वाले, समाधि लगाने वाले को जो ईश्वर का सम्पर्क- सन्देश प्राप्त होता है, वह झूठा-काल्पनिक-वासनात्मक हो सकता है।

नारायण, सम्पूर्ण वेदों का परम तात्पर्य ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान में है। इसलिए, ईश्वर का सच्चा सन्देश वह है, जहाँ परमात्मा से जुदा किसी भी वस्तु का प्रतिपादन नहीं होता है। वहाँ ईश्वर की दृष्टि है, ईश्वर का ज्ञान है, ईश्वर का अनुभव है।

●●●

:: 30 ::

साधक की सिद्धि निष्ठा में!

जितनी निष्ठा होती है, उनकी अपनी-अपनी एक प्रक्रिया होती है। उनमें साधन क्या होता है, स्थिति क्या होती है और फल क्या होता है- यह सब बिलकुल पक्का होता है। अब जिसके हृदय में ईश्वर की भक्ति है, उसका बल है ईश्वर का विश्वास। चाहे रोग आवे, चाहे शोक आवे, चाहे मोह आवे कि लोभ आवे, कि मृत्यु आवे, चाहे विरोध आवे- हर हालत में उसका विश्वास बना रहना चाहिए कि ईश्वर हमारी रक्षा करेगा। सम्पूर्ण विपत्तियों को सहन करने के लिए ईश्वर पर विश्वास आत्मबल देता है।

अब एक आदमी की अद्वैत-निष्ठा है। तो उसके जीवन में भी रोग आवेगा, शोक और मोह के अवसर आवेंगे। कभी पाँव फिसल भी जायेगा और कभी ठीक आगे भी बढ़ेगा, कभी मृत्यु आवेगी। ऐसे में उसका बल यह है कि मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म हूँ- इन परिस्थितियों से मेरा न तो कुछ बनता है और न बिगड़ता है। ये तो मृग-मरीचिका हैं, मायामात्र हैं, अपने स्वरूप में कुछ नहीं हैं। इस निष्ठा के बल के सिवाय यदि वह यह कहने लगे कि ईश्वर, हमको बचाओ। तो उसकी निष्ठा कच्ची है।

अब कोई मंत्र का जप करता है तो अपने मंत्र पर उसका विश्वास है कि मंत्र हमारी रक्षा करेगा। पर, कोई काम पड़ा, कोई रोग आया, कोई समस्या आयी अथवा मृत्यु का अवसर आया और वह अपना मंत्र छोड़कर भगा दूसरे मंत्र की शरण में, तो वह अपनी निष्ठा से च्युत हो गया। बल हमेशा अपनी निष्ठा का होना चाहिए।

अब एक योगी, जो समाधि लगाने का अभ्यास करता है और उसके जीवन में कोई रोग, मोह, शोक का प्रसङ्ग आता है तो वह यदि कहता है कि हे ईश्वर बचाओ अथवा आत्मा तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है- उसकी

निष्ठा पक्की नहीं। उसको तो तुरन्त अन्तर्मुख हो जाना चाहिए। ऐसी शक्ति उसके अन्दर होनी चाहिए कि तुरन्त चित्त-वृत्ति का निरोध हो जाये। कहीं कुछ नहीं।

अब ज्ञानी-पुरुष के जीवन में जो कठिनाई आती है, उसको मंत्र जप करके पार नहीं करता, उसको वह देवता के बल पर पार नहीं करता, ईश्वर की प्रार्थना करके पार नहीं करता। वह जानता है कि अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में यह सब स्फुरणा-मात्र है। इनकी कोई कीमत ही नहीं है।

तो नारायण, तब तक अपनी निष्ठा को पक्की नहीं समझना, जब तक अपनी निष्ठा के अतिरिक्त और किसी का सहारा लेना पड़ता हो। अपने घर में जो बैठने का अभ्यास है, वह साधक की सिद्धि का लक्षण है और जो पराये घर में बैठ कर आँधी, तूफान से बचते हैं, उनकी निष्ठा पक्की नहीं है। अपनी निष्ठा पक्की करनी चाहिए।